हुआ था, इसलिए उसका एक विशेषीकृत रूढ़ हो चुका रूप है जिससे उसे मुक्त किया जाना ज़रूरी है। ताकि उसमें जो कुछ सचमुच सार्वभौम है, उसे स्वायत्त किया जा सके। जिससे वह हमारे उस नये जीवन संदर्भ में चरितार्थ हो सके जिसमें हम आज जी रहे हैं। यह स्वायत्तीकरण, समझने का यह उपक्रम, इसे एक पुरुषार्थ की तरह हमारे लिए प्रस्तुत करता है। अर्थात् ऐसे नये से नये जीवन्त रूपों में, जो कभी नहीं चुकते, वह अपने को उद्घाटित और चरितार्थ करने की चुनौती हमारे सम्मुख पेश करता है। अपनी प्रकृति से ही कोई आदर्श या पुरुषार्थ कभी भी इस लोक में अपनी सम्भावनाओं को सौ फीसदी चरितार्थ नहीं कर सकता। इसीलिए वह आदर्श है और इसीलिए वह वरणीय है।

एक विपुल-विराट् सभ्यता की धरोहर—जैसी कि हमारी सभ्यता रही है—इस तरह एक असमाप्य कार्य की तरह, होती है, जिसे हमको अतीत की पीढ़ियों की ओर से सौंपे गये दायित्व की तरह अनुभव करना चाहिए। ऐसी धरोहर, जिसके प्रति हम ऋणी अनुभव करते हैं—उस सारी समृद्धि के लिए जो वह हमारे लिए छोड़ गयी है। जिसे उसने अभी अधूरे कार्य की तरह हमारे करने के लिए छोड़ा है—अपनी योग्यता, अपनी अन्तर्दृष्टियों के अनुसार।

वर्तमान का संदर्भ वह है जहाँ हम सिर्फ़ एक, मात्र एक सभ्यता द्वारा चारों तरफ से घिर गये हैं, आक्रान्त हैं। हमारी ही जैसी दु:खद-विड़म्बनापूर्ण नियति अन्य सभ्यताओं की भी है। शायद आगामी सहस्राब्दी में हमारी सबसे बड़ी जिम्मेदारी यही है कि हम अपने आपको इन तमाम अन्य सभ्यताओं के प्रति, उनके पुरुषार्थों के प्रति खोलें और इसका यत्न करें कि किस तरह हम स्वयं अपनी सभ्यता के अन्तर्निहित और प्रेरक पुरुषार्थ को उनकी रोशनी में रूपान्तरित, परिवर्तित-संशोधित कर सकते हैं और इसी खुलेपन में अपने आर-पार सृजनशील भी बने रह सकते हैं।

❑

बीसवीं शताब्दी का अन्त और इक्कीसवीं शताब्दी का आरम्भ

अन्त और आरम्भ—इस व्याख्यान का आरम्भ कैसे किया जाये? जो वक्ता इस व्याख्यान-शृंखला का अन्त करने वाला होगा उसके सामने इसको लेकर कोई समस्या नहीं होगी क्योंकि उसके पहले बहुत कुछ कहा जा चुका होगा और उसके आधार पर वह कुछ अन्त भी कर सकता है या करने की चेष्टा कर सकता है। पर आरम्भ...।

वास्तव में चर्चा का विषय तो वही होना चाहिए जो अनादि और अनन्त है। जिसका प्रारम्भ होता है या जिसका अन्त होता है उसकी क्या चर्चा करें! अगर किसी चीज़ का अन्त हो गया है तो वह स्मृति का विषय हो सकती है, संस्कार का विषय हो सकती है; चर्चा का विषय वह तभी हो सकती है जब हम उसको नये तरीके से देखने की कोशिश करें। और यह बात कि जो हो चुका है उसको अनेक दृष्टियों से देखा जा सकता है, उसके अनेक पहलू उभारे जा सकते हैं—यह शायद सबसे अजीब बात है। अभी कुछ दिन पहले रमेशचन्द्र शाह ने कहा कि वे एक नया उपन्यास लिख रहे हैं। उस उपन्यास में एक आदमी है जो अपनी जीवन-कथा लिखना चाहता है। वह हर बार लिखता है और हर बार उसको नकार देता है, काट देता है और यह बात बार-बार होती है। यही स्मृति की कहानी है कि उसको बार-बार अनेक नजरियों से देखते हैं और फिर कहते हैं कि नहीं, यह ठीक नहीं है और फिर कोई नजरिया अपनाते हैं; या यह नजरिया कोई दूसरा आदमी अपनाता है। तो जिस शताब्दी का अन्त हो रहा है उसको हम कैसे देखें? मैं आपके सामने उसके कुछ नजरिये रखना चाहूँगा।

इसी संदर्भ में कल ही मदन सोनी ने एक बात कही और मैं समझता हूँ कि बात इस संदर्भ में उतनी ही सार्थक है जितनी रमेशचन्द्र शाह का वह उपन्यास जो वह लिख रहे हैं। मदन ने यह बात कही कि एक प्रसिद्ध दार्शनिक हैं (उन्होंने नाम नहीं लिया, हो सकता है उनका इशारा शल्य जी की ओर हो) जो यह कहते हैं कि वे इस शताब्दी में नहीं रहते। मदन सोनी ने कहा कि यदि हम इस शताब्दी में हैं,

इसमें जी रहे हैं तो इसको नकारा तो नहीं जा सकता। यह ठीक है, पर मेरे मन में सवाल उठा कि स्वयं यह शताब्दी किसमें स्थित है? हम शताब्दी में स्थित हैं पर यह शताब्दी किसमें स्थित है? और किसी शताब्दी में स्थित होने का मतलब क्या होता है? जो गैर-पश्चिमी संस्कृतियाँ और सभ्यताएँ हैं उनके सामने इस शताब्दी में स्थित होने का अर्थ बहुत भिन्न है। यही इस शताब्दी की स्थिति का केन्द्र-बिन्दु है। जो शताब्दी गुजर रही है, गुजरने वाली है, जिसका अन्त होने वाला है उसमें पश्चिमी सभ्यता, संस्कृति, उसका दृष्टिकोण, उसकी चेतना, उसके चिन्तन की कोटियाँ, उसका भावना जगत् और भावना के तरीके वास्तव में सारे जगत् पर इस प्रकार छा गये हैं कि हर सभ्यता, संस्कृति का मनुष्य इस शताब्दी में अपने को स्थित करना चाहता है तो वह असल में खुद को इन तमाम चीजों में स्थित करना चाहता है, उनसे सम्बन्ध जोड़ना चाहता है, उनको आत्मसात करना चाहता है। यह हमारी स्थिति है।

यह स्थिति कैसे उत्पन्न हुई, इसका एक लम्बा इतिहास है। इस बात को हम जब तक नहीं समझेंगे तब तक इस शताब्दी में खुद को स्थापित करने का हमारा प्रयत्न सार्थक नहीं होगा। तब यह शताब्दी, जिसका केन्द्र पश्चिम का विचार है, उसके चिन्तन की कोटियाँ हैं, उसके नजरिये हैं, उसके देखने का अंदाज है, वह क्या है? मैं आपके समक्ष कुछ पेश करने की कोशिश करूँगा। शायद आपको पसन्द आये।

यह शताब्दी भी जब प्रारम्भ हुई थी तब भी ऐसा ही वातावरण रहा होगा। लोग सोचते होंगे कि एक शताब्दी का अन्त हो रहा है और एक शताब्दी का प्रारम्भ हो रहा है। तब क्या हो रहा था? उस सबकी ओर तो नहीं पर कुछ चीज़ों की ओर मैं दृष्टिपात करूँगा। पश्चिम का एक लम्बा इतिहास है—शुद्ध बुद्धि में आस्था का इतिहास। जब तक आप इस आस्था के प्राण को नहीं समझेंगे तब तक पश्चिम को नहीं समझ सकते। इस आस्था का इतिहास बीसवीं सदी का इतिहास है। जो लोग कला, साहित्य इत्यादि से सम्बन्धित होते हैं, वे सामान्यत: बुद्धि में इस आस्था के प्रति उदासीन होते हैं और इस इतिहास में उनकी कोई विशेष रुचि नहीं होती। लेकिन जो दर्शन का क्षेत्र है, विज्ञान का क्षेत्र है, तकनीक का क्षेत्र है और वे तमाम अनेकानेक क्षेत्र जिन्होंने वास्तव में इस सदी को बनाया है, जिन्होंने आज की स्थिति को उपस्थित किया है वे एक गहन बौद्धिक आस्था के क्षेत्र रहे हैं : बुद्धि में आस्था।

यह आस्था क्या थी? यह अपने में बहुत लम्बी बात है, एक अलग व्याख्यान का विषय। शुद्ध बुद्धि में आस्था का अर्थ क्या होता है? वह आस्था यह है कि जो सत् है उसे हम शुद्ध बुद्धि के द्वारा जान सकते हैं, उसके लिए अनुभव की आवश्यकता नहीं है। और शुद्ध बुद्धि से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह अनिवार्य रूप से, अवश्यम्भावी रूप से सत्य भी होता है। कोई बात जो शुद्ध बुद्धि से प्राप्त होती

है, उसमें एक निश्चितता होती है, क्योंकि वह अनुभव से प्राप्त नहीं है, अनुभव पर आश्रित नहीं है। और उसमें एक सार्वभौमिकता होती है। इस अनिवार्यता और सार्वभौमिकता के अलावा, अनिवार्य रूप से वह ज्ञान उस चीज़ के बारे में भी सत्य होता है जो हम इन्द्रियों के माध्यम से जानते हैं।

इस ज्ञान का प्रारूप गणित का ज्ञान है। गणित का ज्ञान अजीब ज्ञान है। जरा सोचिए कि यह ज्ञान है क्या? हम कहते हैं दो और दो चार होते हैं। ज़रा गिनती गिनिये, गिनती तो कभी समाप्त नहीं होती। जगत् की वस्तुएँ समाप्त हो सकती हैं, वे गिनती में सीमित हैं, लेकिन गिनती समाप्त नहीं हो सकती। यह जो गणित के ज्ञान की, संख्याओं की अनन्तता है, यह क्या है? संख्याएँ अनन्त हैं और हम इस बारे में ज्ञान प्राप्त करते हैं और निश्चित ज्ञान प्राप्त करते हैं। अनन्त के बारे में एक सीमित बुद्धि ज्ञान प्राप्त करती है, ऐसा ज्ञान जो अनिवार्यत: सत्य है। पर यह जो आपके सामने संसार है अगर आप इसको सत्य मानते हैं तो वह तो सीमित है; तब गणित अगर एक वास्तविक ज्ञान है जो कि शुद्ध बुद्धि के द्वारा प्राप्त होता है और जो ज्ञान अनिवार्यत: इन्द्रियजन्य ज्ञान पर लागू होता है, जैसे कि ज्यामिति शास्त्र में होता है, तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह ज्ञान किस विषय का है। यह संख्या क्या है? क्योंकि संख्या तो अनन्त है, संख्या वह चीज़ नहीं है जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होती हो। इन्द्रियों के द्वारा अनन्तता ग्रहण नहीं होती। इन्द्रियजन्य ज्ञान हमेशा सीमित होता है : वह यहाँ है, अब है। यही नहीं, जैसे-जैसे गणित की संख्याओं के क्षेत्र का विस्तार होता है वैसे-वैसे यह समस्या और जटिल होती जाती है। मसलन जब हम कहते हैं कि यह शून्य है तो शून्य किस प्रकार की संख्या है? और शून्य से नीचे जाने वाली संख्या, जिसको हम नेगेटिव संख्या कहते हैं, वह क्या है? रेशियो क्या है, रेशनल कही जाने वाली संख्याएँ क्या हैं? संख्याओं के क्षेत्र का विस्तार कहाँ-कहाँ, कब-कब हुआ है और उसने मनुष्य के लिए क्या समस्याएँ उत्पन्न की हैं—यह अपने आपमें एक बड़ी भारी कहानी है। बहरहाल मैं आपका ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि मनुष्य के सामने एक समस्या यह उत्पन्न हुई—शताब्दी के प्रारम्भ में—कि यह ज्ञान वास्तव में किस विषय का ज्ञान है। क्योंकि अगर आप यह मानते हैं कि गणित का ज्ञान है और वह किसी विषय का ज्ञान है तो उस विषय की सत्ता भी माननी पड़ेगी। उस विषय की सत्ता मानते ही आपको असंख्य की, गणनातीत की, अनन्त की सत्ता माननी पड़ेगी। और आधुनिक मानव अनन्त की सत्ता कैसे मान सकता है! इस सदी की शुरुआत इस समस्या से होती है।

आज जिसको आप 'सेक्युलरिज्म' कहते हैं, उसका अर्थ क्या है? यही कि इन्द्रियों से जो ग्रहण होता है, वह ही सच है, बाकी सब कल्पना है। अगर हम यह मानते हैं कि जो इन्द्रियों से भोगा जा सकता है, जिसका आनन्द इन्द्रियों से लिया जा सकता है, जो इन्द्रियों को शुभ-अशुभ लगता है वही सत् है, वही शुभ है, वही

सुन्दर है, बाकी सब कल्पना है तो गणित जो शुद्ध बुद्धि के ज्ञान का क्षेत्र है उसका क्या होगा, उसको हटाया तो नहीं जा सकता! और उसको स्वीकार करते ही हम 'नॉन-सेक्युलरिस्ट' हो जाते हैं; हम एक ऐसे क्षेत्र की सत्ता में विश्वास करने लगते हैं, जो स्वयं में अनन्त है, फिर भी जिसका ज्ञान होता है, जिसको ग्रहण किया जाता है।

इस शताब्दी का प्रारम्भ इस बात से होता है कि कैसे हम संख्याओं के इस ज्ञान को इस प्रकार समझें कि हमको यह मानने की ज़रूरत न हो कि संख्याओं जैसी कोई चीज़ है। आप जरा सोचिए—दिस सेंचुरी स्टार्ट्स विद ए सेल्फ कन्ट्राडिक्टरी डिमाण्ड ऑन दि इण्टलेक्ट इटसेल्फ। स्वयं बुद्धि के लिए बुद्धि का क्षेत्र समस्या उत्पन्न करता है—एक ऐसी समस्या जो अन्तर्विरोध से भरी हुई है। एक तरफ वह कहती है कि ऐसा ज्ञान है, दूसरी तरफ कहती है कि ऐसा ज्ञान नहीं होना चाहिए। क्यों नहीं होना चाहिए? यहाँ एक आग्रह है। अगर उसको हम वास्तव में एक ज्ञान मानते हैं, उसके विषयों को वास्तव में अगर विषय मानते हैं तो हमारे सामने यह समस्या होती है कि यह जो जगत् है, यह जो हमें इन्द्रियों से ज्ञात होता है, यही मात्र जगत् नहीं है, कुछ और भी है। कुछ और भी है, इसे नकारना, स्वयं बुद्धि के द्वारा उस ज्ञान को नकारना है जो बुद्धि के द्वारा प्राप्त होता है, जिसकी कम से कम ढ़ाई हजार साल की पश्चिमी परम्परा थी।

1910 में रसल ने **प्रिंसपिया मैथामैटिका** लिखी। लिखी तो उससे पहले थी लेकिन 1910 में छपी थी। यह एक बड़ी भारी कोशिश थी कि गणित का ज्ञान स्वतंत्र रूप में गणित का ज्ञान न माना जाये। बुद्धि की इससे बड़ी कोशिश शायद कभी नहीं हुई थी कि बुद्धि यह कहे कि मुझे जिस क्षेत्र का ज्ञान होता है और जिस पर मुझे नाज़ है और जिसके सहारे हम सारी दुनिया को समझते हैं वह वास्तव में ज्ञान नहीं है, वह प्रतीति मात्र है; वह वास्तविक ज्ञान नहीं है।

आप सब साहित्य प्रेमी, साहित्य के लोग हैं इसलिए आपको इसमें शायद थोड़ा रस भी आ सकता है कि भाषा क्या चीज़ होती है? भाषा विषय है, पर एक माध्यम भी है। भाषा बिना अर्थ के कुछ नहीं होती। पर भाषा क्या उसी रूप में एक विषय है जिस रूप में टेबिल, कुर्सी और दुनिया की तमाम दूसरी चीजें होती हैं? हमारे यहाँ भाषा पर चिन्तन हुआ है। आरम्भ से हुआ है। गणित पर चिन्तन पश्चिम में हुआ है। दोनों एक तरह से बड़ी अजीब चीज़ें हैं। भाषा स्वयं में कोई चीज़ नहीं है, लेकिन अर्थ क्या है? उस अर्थ का भाषा से सम्बन्ध क्या है? स्वयं अर्थ की सत्ता क्या है? जिस प्रकार संख्याओं की सत्ता की समस्या उत्पन्न होती है उसी प्रकार अर्थ की सत्ता की भी समस्या उत्पन्न होती है। अर्थ ग्रहण कैसे होता है? अर्थ इन्द्रियों से तो ग्रहण नहीं होता? फिर कैसे होता है? अर्थ का संसार कैसे बनता है? अर्थ में सत्-असत् का भेद कैसे करेंगे क्योंकि अर्थ तो सदैव सत् होता है, यद्यपि वो जो कहता है वह असत् हो सकता है। इसी प्रकार शून्य को माने बगैर

संख्याएँ नहीं हो सकतीं। विडम्बना देखिये कि हम जहाँ से चले थे वहाँ मानते थे कि जो इन्द्रियों से ग्रहण होता है वही सच है। पर जब इन दो चीज़ों पर विचार करते हैं तो यह समस्या होती है कि शून्य क्या है और उस अर्थ का अर्थ क्या है जो यह कहता है कि 'यह नहीं है'। क्योंकि अगर हम कह रहे हैं कि यह नहीं है और यह वाक्य सत्य है तो इसका कोई विषय होना चाहिए वरना वह सत्य कैसे होगा? ये दो समस्याएँ पिछले सौ सालों के इतिहास में बुद्धि के केन्द्र में रही हैं।

जब संख्याओं को रसल ने, ह्वाइट हैड ने, तर्कशास्त्र के अंदर अनुदित किया कि वास्तव में संख्याओं को हम तर्कशास्त्र के अंदर रूपान्तरित कर सकते हैं, तब समस्या का रूप यह हो जाता है कि तर्कशास्त्र का विषय क्या है और उसकी सत्ता क्या है। और क्योंकि तर्कशास्त्र वाक्यों के आपसी सम्बन्धों से सम्बन्धित होता है और वाक्य भाषा के अनिवार्य अंग होते हैं, इसलिए समस्या केवल भाषा की ही रह जाती है। भाषा कम से कम उस रूप में विषय नहीं है जिस रूप में संख्या दिखती है। भाषा का सत्य वह सत्य नहीं है जो संख्या का सत्य है। तब समस्या बदल जाती है और भाषा पर आकर केन्द्रित हो जाती है। दूसरी तरफ दो बड़ी कोशिशें थीं जिनकी ओर इशारा करना ज़रूरी है। एक कोशिश यह सिद्ध करने की थी कि गणित के ज्ञान में कोई भी अन्तर्विरोध नहीं है। जो भी कोई शुद्ध बुद्धि की बात करता है वह यह मानता है कि अगर कोई आदमी यह सिद्ध कर दे कि आप जो कह रहे हैं उसमें अन्तर्विरोध है तो वह बात सत्य नहीं हो सकती। तो उस ज़माने के सबसे बड़े गणितज्ञ हिल्बर्ट ने यह कोशिश की कि हम यह सिद्ध कर दें कि वास्तव में जो भी सारे गणित का विस्तार है इसमें मूलभूत रूप में आपस में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। इसका मतलब यह है कि उसकी जो स्थापना है वह ऐसी भित्ति पर हो जायेगी जो असंदिग्ध होगी।

यह कहानी इसलिए ज़रूरी है कि आज जब लोग ड़ेरिड़ा या रोर्टी की बात करते हैं तो उनको यह कहानी पता नहीं होती। और जब तक यह कहानी पता नहीं होगी तब तक आप न ड़ेरिड़ा को समझ सकते हैं न रोर्टी को समझ सकते हैं और न आज के पश्चिम की आस्था को समझ सकते हैं। यह जो हुआ, इस शताब्दी के प्रारम्भ में, जो समस्या इसके सामने उत्पन्न हुई, उसने इस सारी खोज की नींव को हिला दिया। उसके बाद पश्चिम की बौद्धिकता में आस्था बिल्कुल खत्म हो गयी। आप लोग नहीं जानते कि पश्चिम में क्या हुआ है। पश्चिम की बौद्धिकता की जड़ें किस तरह हिली हैं—इसका आपको आभास नहीं है। रसल और ह्वाइटहैड की कम से कम दस साल की कोशिश और उसके बाद की लगातार कोशिशों के बाद लोगों ने हताश होकर यह मान लिया कि यह प्रयत्न असम्भव है। क्यों असम्भव है? क्योंकि गणित का ज्ञान तब तक ज्ञान का रूप नहीं ले सकता जब तक कि वह ऐसी मूल मान्यता न माने जो शुद्ध बुद्धि नहीं दे सकती: जो शुद्ध बुद्धि सत्यापित नहीं कर सकती। वह क्या है? बड़ी सीधी-सीधी चीज़ है। उसको कहते हैं

'एक्ज़ियम ऑव इनफिनिटी'; हमको यह मानना पड़ेगा कि संख्या अनन्त है। परन्तु जो है वह सान्त है लेकिन अनन्त को माने बगैर गणित नहीं बन सकता। और अनन्त है या नहीं, यह शुद्ध बुद्धि नहीं बता सकती, और इन्द्रियाँ भी नहीं बता सकतीं क्योंकि जो है वह तो सब कुछ सीमित है।

दूसरी तरफ 1931 में कुर्ट गोडेल जो कि संसार के सबसे बड़े गणितज्ञों में थे उन्होंने दो परचे लिखे। उन दो परचों ने सारे गणित की नींव को धराशायी कर दिया। जिस तरह रसल ने सिद्ध किया कि यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि सारे गणित का जो विस्तार है, वह एक ऐसी नींव पर निश्चय ही आधारित है जो कोई ऐसी पूर्व मान्यता नहीं रखता जिसका विषय-सत् से कोई सम्बन्ध न हो, अर्थात् जो विषयों की सत्यता के बारे में कोई भी पूर्वापेक्षा नहीं करता, जिसकी सत्यता बुद्धि नहीं बता सकती उसी प्रकार गोडेल ने यह कहा कि यह कभी सिद्ध नहीं किया जा सकता (यानि उसने यह सिद्ध किया कि सिद्ध नहीं किया जा सकता) कि गणित वास्तव में अन्तर्विरोध शून्य है। अब देखिये कि मनुष्य की बुद्धि क्या कहती है : मेरी जो रचना है, उसकी नींव में एक ऐसी मान्यता है जिसको बुद्धि सत्य रूप में नहीं बता सकती, और जो इन्द्रियानुभव के आधार पर कभी भी सत्यापित हो ही नहीं सकता। दूसरी ओर वही बुद्धि यह बताती है कि यह कभी सिद्ध नहीं किया जा सकता कि वह अन्तर्विरोधों से मुक्त है। ये दो खोजें अब नयी दिशाएँ लेती हैं।

दूसरा आयाम इसी काल में विज्ञान के क्षेत्र में उत्पन्न हुआ था; ऐसा क्षेत्र जहाँ शुद्ध बुद्धि और अनुभव का एक मिश्रण होता है। वह अजीब मिश्रण है। जो लोग विज्ञान को नकारते हैं वे यह भूलते हैं कि विज्ञान में इन्द्रियानुभव, कल्पना और शुद्ध बुद्धि से उत्पन्न तर्क और गणित इन तीनों का ऐसा मेल है जैसा संसार में आज तक कभी नहीं हुआ। विज्ञान की जो चमत्कारिक प्रगति है, पिछले सौ से अधिक साल में, वह इस नींव पर आधारित है। उन्होंने ऐसी विधि का पता लगाया जिसमें कल्पना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज विज्ञान में साहित्य से भी अधिक कल्पना का अंश है : आप 'साइंस फिक्शन' पढ़िये। वह ऐसी-ऐसी बातें कहता है जो समझ में नहीं आतीं। 1905 में आइन्सटाइन का पहला पेपर निकलता है रिलेटिविटी के बारे में। और उसके कम से कम दस या पन्द्रह साल बाद उसका दूसरा पेपर निकलता है **जनरल थ्योरी ऑव रिलेटिविटी**। हम लोगों को आज पश्चिम का विरोध करने की भी आदत बन गयी है लेकिन जरा पश्चिम को समझिये तो सही। गति, देश और काल का जो सम्बन्ध आइन्सटाइन ने स्थापित किया वह वास्तव में मनुष्य के इतिहास में ऐसी घटना थी जो आज तक पूर्ण रूप से मनुष्य के समझ में नहीं आयी है। 'जनरल थ्योरी' के बारे में तो आज भी कहा जाता है कि उसको बड़े-बड़े वैज्ञानिक नहीं समझते। अगर आइन्सटाइन ने एक नयी बात पता की कि देश और काल को समझने के लिए इनको गति से

सम्बन्धित करना होगा और गति की चरमसीमा है और इनमें सापेक्षता है तो देश और काल की अनन्तता का क्या होता है? क्योंकि देश काल स्वयं गति-सापेक्ष हैं और गति स्वयं सीमित है, एक हद के आगे वह नहीं बढ़ सकती। यही नहीं उसने एक बात और कही कि वास्तव में जो द्रव्य और ऊर्जा है, जो जड़ जगत् है और जो शक्ति है वे वास्तव में एक-दूसरे में रूपान्तरित किये जा सकते हैं। उनका रूपान्तरण ही नहीं किया जा सकता बल्कि उस रूपान्तरण का एक फार्मूला बताया जा सकता है। बड़ा मशहूर फार्मूला है : $E=mc^2$ जिसके आधार पर एटम बम बना है। उसके बाद 31 की कहानी हाइज़नबर्ग से आरम्भ होती है—**प्रिंसिपल ऑव इनडिटर्मिनेसी** से : जो विद्युत कण—जिनके एक प्रसार से सारा जगत् बना है—उनके बारे में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे किस विशिष्ट स्थान पर हैं और उनकी गति क्या है। हम केवल एक का ही निर्धारण कर सकते हैं। अगर यह जानना चाहते हैं कि वह किस देश में स्थित है तो उस समय उसकी गति का पता लगाना असम्भव है। दूसरी ओर यदि हम उसकी गति के बारे में निश्चित रूप से जानना चाहते हैं तो यह जानना असम्भव है कि वह उस समय किस विशिष्ट देश में है। जो अणु हैं उनमें क्या होता है, उनके बारे में एक निश्चितता नहीं हो सकती।...यह सब बाद की कहानी है। 1930 तक एक ऐसी अवस्था उत्पन्न हो चुकी थी जहाँ बुद्धि ने स्वयं अपने सामने ऐसे प्रश्न उपस्थित कर दिये थे जिससे बुद्धि में उस प्रकार का विश्वास सम्भव नहीं रह गया था जैसे पहले था।

अब जरा थोड़ा पलटिये। उसी बुद्धि में आस्था ने मार्क्स को पैदा किया था। उसके पहले हेगेल हो चुका था। हेगेल ने शुद्ध बुद्धि के द्वारा सारे इतिहास को समझने की चेष्टा की थी। अब हम जड़ जगत् की बात नहीं कर रहे हैं, संख्याओं की बात नहीं कर रहे हैं, अब हम इतिहास की बात कर रहे हैं, मानव की बात कर रहे हैं। पहले हेगेल ने और बाद में मार्क्स ने शुद्ध बुद्धि के द्वारा इस बात को पकड़ने की कोशिश की कि इतिहास के अन्दर क्रम क्या है, उसकी गति क्या है, उसके नियम क्या हैं; और इसी के साथ शुद्ध बुद्धि अगर आदर्श उपस्थित करती है, पुरुषार्थ उपस्थित करती है, तो मानव का पुरुषार्थ क्या है। मानव के पुरुषार्थ को पहली बार इतिहास से जोड़ा गया। पश्चिम में ईसाईयत ने पहले ऐसा कुछ किया था लेकिन वह मनुष्य का पुरुषार्थ नहीं था, उसमें कई नयी दैवी शक्तियाँ थीं। पर यहाँ तो मनुष्य स्वयं अपने पुरुषार्थ को इतिहास से जोड़कर इतिहास के क्रम को जानकर एक ऐसे समाज की रचना कर सकता है जो आदर्श समाज हो। यह कहानी 1917 के बाद शुरू होती है रूस में। क्रान्ति के बाद रूस में जो कुछ हुआ वह शुद्ध बुद्धि का बाहर का खेल है। उसकी नींव में शुद्ध बुद्धि की बात है।

उसी शुद्ध बुद्धि का एक दूसरा रूप भी था : नात्सीवाद। नात्सीवाद को आप शुद्ध बुद्धि का रूप कहेंगे या नहीं?—यह समस्या उत्पन्न हो सकती है। कुछ लोग

कहते हैं कि नहीं वह उसका उल्टा था। वह बौद्धिकता नहीं थी, वह कुछ और था। आज लोग होलोकॉस्ट की बात करते हैं और कहते हैं कि इतने लाखों लोगों को मार दिया गया क्योंकि वे यहूदी थे और उनके खाल के लैम्पशेड़ बनाये गये, उनकी चर्बी से साबुन बनाया गया; ये इतने जाहिल लोग थे। लेकिन जर्मनी तो जाहिलों का देश नहीं था। वह तो बिथोवन, मोत्सार्ट, बाख का देश था, मार्क्स और हेगेल का देश था। नीत्शे का भी देश था। जर्मनी तो शुद्ध बुद्धि का केन्द्र था जहाँ यह सब हुआ! एक सभा हो रही थी। वहाँ इसकी चर्चा हो रही थी। रामचन्द्र गाँधी वहाँ थे। उन्होंने पूछा : हर रोज लाखों जानवरों को इसलिए मार दिया जाता है कि मनुष्य की क्षुधा शान्त हो और अगर एक लाख आदमी मार दिये जाते हैं तो आपको लगता है कि बुरा हुआ! उन्होंने कहा, शायद यह जो होलोकॉस्ट हुआ है यह आपको यही सिखाने के लिए है कि उन जानवरों को कैसा महसूस होता होगा। सारा सभागार स्तब्ध। किसी की हिम्मत नहीं हुई कि कुछ कहे। क्योंकि यह तो आपने एक ऐसी नब्ज़ छू दी है जहाँ पश्चिम का आदमी ही क्या, जो भी माँस खाता है वह एकदम बिलबिला उठता है। कभी शिकागो में जाइये, जहाँ माँस का सबसे बड़ा कारखाना है। कहने का अर्थ यह है कि जानवर में और मनुष्य में भेद क्या है? आप क्यों भेद करते हैं मनुष्य और जानवरों में? अगर जानवर के साथ आप एक प्रकार का व्यवहार ठीक समझते हैं तो वही व्यवहार मनुष्य के साथ क्यों गलत मानते हैं। हिटलर उनको मनुष्य नहीं मानता था। उसने कहा था कि ये लोग मनुष्य नहीं हैं। आपकी परिभाषा में वे मनुष्य हो सकते हैं, उसकी परिभाषा में मनुष्य नहीं थे। जिस प्रकार मार्क्स की परिभाषा में प्रत्येक मनुष्य मनुष्य नहीं होता। जब तक आप प्रॉलिटरेट क्लास के नहीं हैं तब तक आप मनुष्य नहीं हैं, बुर्जुआ हैं। बुर्जुआ एक गाली है। कॉडवेल ने किताब लिखी थी **स्टडीज़ इन ए डाइंग कल्चर** उसके हर पन्ने पर यह गाली है: बुर्जुआ। मनुष्यों के बीच में यह भेद भेद ही है—चाहे वह किसी आधार पर हो, वर्ग, रूप, रंग, किसी भी आधार पर। वे मानते हैं कि कुछ लोग मनुष्य नहीं हैं। और इसका जीता-जागता उदाहरण केवल नात्सी जर्मनी में ही नहीं मिलता, आपको कम्युनिस्ट शासन में भी मिलता है जहाँ लाखों लोगों की हत्या कर दी गयी, क्योंकि वे वर्ग विशेष में नहीं थे, उसके विरोधी थे। इससे भी ज़्यादा कम्बोड़िया में हुआ। यह भी उस शताब्दी का इतिहास है जिसका अन्त आज आप देख रहे हैं।

अब थोड़ा देखिये, मनुष्य को देखने की दृष्टियों की ओर। जिन चित्रकारों की आप तारीफ करते हैं—जैसे पिकासो, जिनको आप क्यूबिस्ट कहते हैं—वे मनुष्य को कैसे देखते हैं? सिलिण्डर की तरह है, सर्किल है, क्यूब है। संसार में मनुष्यों का इतना निरादर कभी भी हुआ है! जिस मनुष्य के बारे में कहा गया था कि वह वास्तव में अमृत का पुत्र है उसको आज इस दृष्टि से देखा जा रहा है। यह भी वही बुद्धि कह रही है कि शुद्ध विषय रूप में देखो। शुद्ध विषय रूप में देखने

का अर्थ क्या होता है? यह भी पश्चिम के इतिहास की कथा है। उसी इतिहास की कथा जिसमें पहले यह कहा गया कि वास्तव में जगत् में न रूप है, न रस है, न गंध है, न स्पर्श है, ये तो सब हमारी इन्द्रियों से उत्पन्न होते हैं; हमारी इन्द्रियों के व्यापार से हमें यह प्रतीति होती है कि नीला है, पीला है पर वास्तव में तो वे प्रकाश की तरंगें हैं, उन तरंगों के भेद हैं, वे सब भेद परिमाण के भेद हैं। तो जो कुछ है वह या तो संख्या है या आकार मात्र है। मनुष्य के बारे में आपको क्यूबिस्ट आर्ट यह बताता है और आप उसकी वाहवाही करते हैं कि यह मनुष्य शुद्ध विषय रूप है। क्योंकि जब तक वह विषय रूप नहीं होगा तब तक वह विज्ञान का विषय नहीं बन सकता, जाना नहीं जा सकता। और जाना कैसे जायेगा? उन्हीं कोटियों में जाना जायेगा जिन कोटियों में आप जड़ जगत् को जानते हैं। बुद्धि में आस्था का तीसरा पक्ष है कि सारा संसार, चाहे वह मनुष्य का हो, चाहे मनुष्य की रचनाओं का हो, उसको विषय रूप बनाकर परिमाणात्मक रूप में, संख्या के क्षेत्र में लाकर ही समझा जा सकता है; कार्य कारण रूप में। हम उस पर काबू तभी पा सकते हैं जब हम उन कारणों का पता लगायें जिनसे वह उत्पन्न होता है और फिर उन कारणों को उत्पन्न करें। इसकी भी एक लम्बी कहानी इस शताब्दी की कहानी है। लेकिन वास्तव में यह कहानी संस्कृति के उस अन्तराल की, उसके पतन की कहानी है। संस्कृतियों और सभ्यताओं का पतन किसी एक शताब्दी में नहीं होता। उसमें बहुत समय लगता है। जब कोई इतिहासकार मुड़कर देखता है तो उसे पता चलता है कि यह तो बहुत पहले आरम्भ हो गया था।

अब देखिये कि चक्र और किस ओर घूमता है। अब तक बुद्धि सत्य को खोजती थी, यह मानती थी कि कोई सत्य है, लेकिन आज जो रॉर्टी और ड़ेरिड़ा में मिलता है वह वास्तव में उस मोड़ की कहानी है जहाँ बुद्धि थक चुकी है, जहाँ अपने आप में उसका विश्वास खत्म हो चुका होता है और तब वह कहती है कि चूँकि सत्य तो जाना ही नहीं जा सकता, सत्य का अर्थ ही कुछ नहीं होता इसीलिए वास्तव में किसी भी विषय पर बैठकर बात करने का कोई आधार ही नहीं है। रॉर्टी और ड़ेरिड़ा बहस नहीं करते। आप लोग उन पर मोहित हैं। वे बहुत अच्छा लिखते हैं, लेकिन उन्होंने बुद्धि को शुरुआत में ही नकार दिया है लेकिन अगर कोई कुछ कह रहा है और उसमें अगर कोई अन्तर्विरोध है, और अगर वह ज्ञान के क्षेत्र की बात है तो साधारणत: वह बात गलत मानी जाएगी। अगर कोई खण्डन करेगा तो आपको जवाब देना पड़ेगा, आपको यह बताना पड़ेगा कि उसने जो दोष बताया है वह दोष क्यों नहीं है। इन दोनों के अलावा भी बहुत सारे लोग हैं—इनके चेले-चाँटे। वे तमाम इस बात के लिए तैयार ही नहीं हैं कि बहस करें क्योंकि वे यह निश्चय कर चुके हैं कि बहस से कुछ नहीं मिल सकता। रॉर्टी तो साफ कहते हैं कि आप मानिये, न मानिये, असली बात तो यह है कि शक्ति हमारी (यानी पाश्चात्य जगत् की) है और इतिहास बता चुका है कि हम जो कहते हैं वही ठीक है, इससे ज्यादा ठीक कुछ मिल नहीं सकता।

लेकिन इसके पीछे एक और कथा है। विज्ञान के बारे में भी आप लोगों की जो मान्यता है वह बहुत पुरानी है। आज का वैज्ञानिक यह नहीं मानता कि वह किसी सत्य की खोज कर रहा है। विज्ञान का एक बड़ा प्रसिद्ध दार्शनिक है, लकाटोस; उसका बहुत असर हुआ है, उसके पहले विज्ञान के किसी विषय के संदर्भ में दो वैज्ञानिकों की परिकल्पनाओं के बीच चुनाव का आधार इस बात पर निर्भर करता था कि वह परिकल्पना असत्य है या सत्य है। मैं इस लम्बी कथा में नहीं जाना चाहता लेकिन इसके बारे में दो बातें सिद्ध हो चुकी हैं। पहली, जो पॉपर के नाम से प्रसिद्ध है,यह है कि यह कहना कि आप किसी प्राक्कल्पना को सत्यापित कर सकते हैं, गलत है। आप यह बता सकते हैं कि वह गलत है पर यह नहीं कह सकते है कि वह सत्य है। बाद में यह हुआ कि आप यह भी नहीं कह सकते। (वास्तव में बीसवीं शताब्दी की कहानी इसकी चर्चा किये बिना हो ही नहीं सकती) तब फिर क्या होता है? आप जरा टर्न देखिये, जरा मज़ा लीजिए—शोखिए-तहस्रीर का। लकाटोस कहता है कि दो प्राक्कल्पनाओं में से चयन उसका करना चाहिए जिस पर ज्यादा रिसर्च हो सके, जिससे रिसर्च प्रोग्राम ज्यादा उत्पन्न हो सकें। यानी वैज्ञानिक इसलिए चयन नहीं करता कि वह किसी बात को सत्य साबित करेगा या किसी बात को झूठ साबित करेगा, बल्कि इसलिए कि इससे और रिसर्च कितनी हो सकती है और रिसर्च प्रोग्राम कितना बन सकता है। और इसका ताजा संस्करण यह है कि किस प्राक्कल्पना पर कितना पैसा खर्च होगा, सरकार से आप कितना पैसा माँग सकते हो—यह शोध के चयन का आधार है। आपको आश्चर्य होगा कि वैज्ञानिक अनुसंधान की दिशाएँ (अपने यहाँ भी) आज इस बात से निर्धारित होती हैं कि उसके लिए कितना पैसा मिल सकता है रिसर्च के लिए। बुद्धि का, ज्ञान के पुरुषार्थ का, इससे ज़्यादा करप्शन नहीं हो सकता! यह आज की स्थिति है।

मनुष्य के बारे में ऐसा कहा गया है कि जो देखने में बड़ा बौद्धिक प्राणी होता है उसका अवचेतन मन बड़ा भाव-केन्द्रित अथवा भावुक होता है और जो देखने में बड़ा भावुक होता है, वास्तव में उसका अवचेतन मन उतना भावुक नहीं होता। यह बात ठीक हो या न हो पर संस्कृति-सभ्यता के बारे में भी ऐसा लगता है। जहाँ एक ओर बौद्धिक आस्था केन्द्र बिन्दु है, शुद्ध बुद्धि का विस्तार है, वहीं दूसरी ओर शुद्ध भावुक भी है। अगर एक तरफ पिकासो है तो दूसरी तरफ शागाल है। (आप शागाल के चित्र देखिये और पिकासो के; दोनों को बार-बार देखिये, तब आपको पता लगेगा कि क्या हो रहा है।) अगर एक तरफ मार्क्स है, वेबर है, तो दूसरी तरफ फ्रायड है जो **फ्यूचर ऑफ स्न इल्यूज़न** लिखता है। तो पश्चिम की सभ्यता में स्वयं में अन्तर्विरोध है।

लेकिन आज स्थिति क्या है इस शताब्दी के अन्त में? यहाँ आकर दोनों धाराएँ मिल गयी हैं। शुद्ध बुद्धि ने अपने में आस्था खो दी है, क्योंकि सत्य की

खोज समाप्त हो गयी है, केवल शक्ति की साधना है, अर्थ की साधना है, काम की साधना है। आज वही ज्ञान 'ज्ञान' है जिससे आप धन कमा सकते हैं, शक्ति उपार्जन कर सकते हैं, बम बना सकते हैं या इस प्रकार की चीज़ें बना सकते हैं...। आर्म्स इण्डस्ट्री अपना सामान कैसे बेचती है? सिर्फ बोफोर्स की बात नहीं है, सारे संसार में जो आज आतंकवाद फैल रहा है वह कैसे हो रहा है, उनके पास ये सारी चीज़ें कहाँ से आ रही हैं, कैसे बिकती हैं? इसके पीछे एक बड़ा भारी तंत्र है जो केवल यह मानता है कि वही ज्ञान ज्ञान है जो इनको बेच सकता है। अब तो यह सब हमारे देश में भी होने वाला है। हमारे यहाँ भी लोग बहुत शान से कहते हैं हमारी लड़की, हमारा लड़का एम.बी.ए. कर रहा है! अरे, यह कोई पढ़ने की चीज़ है! आप बताइये, बिड़ला जी इतने बड़े व्यापारी थे, उनको कोई बौद्धिक मानता था! लेकिन आजकल इंजीनियरी करने के बाद लड़का एम.बी.ए. करता है और इससे लड़का भी प्रसन्न है और उसके माता-पिता भी प्रसन्न हैं।

गीता का एक बड़ा प्रसिद्ध श्लोक है जिसका मतलब कुछ यह है कि जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु निश्चित है और जिसकी मृत्यु हुई है उसका जन्म निश्चित है। तो ये जो आस्थाएँ हैं—बुद्धि के बारे में या भावना के बारे में या कर्म के बारे में, या काम के, शक्ति के जो पुरुषार्थ हैं—ये चिरन्तन हैं। कभी किसी का विस्तार होता है, कभी कोई केन्द्र बिन्दु बनता है; कभी कोई पीछे हटता है कोई आगे आता है। मैं आपसे अन्त में यह कहना चाहूँगा कि यदि आप संस्कृतियों के इतिहास को समझना चाहते हैं तो आप पश्चिम का मोह छोड़िये। जानिए जरूर, पर जिस तरह से वे अपने को प्रस्तुत करते हैं, उन्हें वैसे मत देखिये। आप यह देखिये कि उसके पीछे क्या हो रहा है। इसी के साथ जो गैर-पश्चिमी संस्कृति और सभ्यताएँ हैं जैसे कि चीन की, उनको भी देखिये; उन्होंने मनुष्य के बारे में, संस्कृति के बारे में, इतिहास के बारे में किस तरह सोचा है और उनका इतिहास क्या रहा है, यह भी देखिये। जितनी चिरन्तनता और परिवर्तन इस देश के बुद्धि, भावना और साधना के आयामों में हुआ है उतना शायद ही कहीं और हुआ है। उसका इतिहास आपको पता नहीं है, आपको विचार की वे कोटियाँ भी पता नहीं हैं जिनसे इस देश ने इन सब क्षेत्रों को पकड़ा है। आपकी संस्कृति से आपको इतनी बड़ी धरोहर मिली है। हमने उसको इन डेढ़ सौ सालों में बिल्कुल भुला दिया और हम किसी ऐसी संस्कृति पर मोहित हैं जिसमें हालांकि बहुत कुछ है लेकिन जिस प्रकार हम मोहित हैं वह हमें उसके असली स्वरूप को समझने में बाधा उत्पन्न करता है। मुझे आश्चर्य होता है कि हमारे यहाँ के अच्छे से अच्छे लड़के और लड़कियाँ जिन चीज़ों पर मोहित हैं उनके असली इतिहास का उनको ज्ञान जरा सा भी नहीं है—उस इतिहास का जिसकी ओर मैंने संकेत किया है। उनको तो अपने देश के बौद्धिक इतिहास के बारे में भी वास्तव में ज्ञान नहीं है, लेकिन इस अज्ञान के बावजूद भी उनमें दम्भ इतना है कि जैसे वह जो कुछ कहते हैं वही वास्तव में

ठीक है। एरोगेन्स ऑव इग्नोरेंस इज अनबिलीवेबॅल। संसार में ऐसा कभी हुआ ही नहीं है कि आपको पता भी नहीं है और आप एरोगेण्ट हैं।

पश्चिम में एक जीवन्त शक्ति है। आप अगर उसके बारे में खुले मन से सोचेंगे तो आप पश्चिम को भी नये रूप में समझेंगे, अपने को भी नये सिरे से समझेंगे और जिस 'आरम्भ' की बात हम करना चाहते हैं वह कुछ नये प्रकार का हो सकेगा। कम से कम वह अंधा नहीं होगा। आज हम कितने अंधे होते जा रहे हैं! रोज़ अखबार में पढ़ते हैं कि दिल्ली में पानी और हवा जीवन के लिए हानिकारक हैं। हमें इन सबके कारण भी पता हैं। लेकिन हम सोचते हैं कि विकास का अर्थ यही है कि गाड़ियाँ कितनी हैं। विकास का मतलब ही यही है कि धुआँ कितना है। आप तो भोपाल में रहते हैं जहाँ ट्रेजिडी हुई थी। लेकिन वास्तव में आज यह विकास का लक्षण माना जाता है। कौन यह कहेगा कि यह विकास नहीं है! अगर आपकी सड़कों पर अधिक मोटरें चलती हैं तो यही कहा जायेगा कि विकास हो रहा है। आपके प्रदेश में कितने विश्वविद्यालय हैं, यह विकास का लक्षण है, जबकि सबको पता है कि वहाँ पढ़ाई नहीं होती। एक तरफ आप कहते हैं कि पढ़ाई नहीं होती, कि लड़के को लिखना नहीं आता, दूसरी तरफ कहते हैं विकास हो रहा है। इसी के आधार पर तो आँकड़े बनते हैं। ये आँकड़े उन चीजों के हैं जिनको पश्चिम ने विकास का मापदण्ड माना है। उन मापदण्डों पर हम अपने को तौलते हैं। यदि वे मापदण्ड हम नहीं स्वीकारें तब क्या होगा? हमने अपने मापदण्ड तो नहीं बनाये! क्या पश्चिम के बारे में, पश्चिमी सभ्यता के बारे में, ज्ञान के बारे में हमारे अपने मापदण्ड हैं।

आरम्भ थोड़ा खुला होता है; कम से कम भ्रम जरूर होता है कि वह खुला है। और उसमें हमें थोड़ा चयन का अधिकार होता है, कल्पना का अधिकार होता है, पुरुषार्थ का अधिकार होता है। इसीलिए कम से कम जो अपने प्रारम्भ में है, उसके बारे में, हम कुछ नये सिरे से सोच सकते हैं। हम अपने अनुभूत सत्य को ईमानदारी से कहें कि यह विकास नहीं है, विकास कुछ और है। इस आरम्भ में हम विचार, अनुभूति, साधना, धर्म आदि के क्षेत्र में, अपनी पुरानी विरासत को लेकर आगे बढ़ें तो मैं समझता हूँ कि शायद कुछ नया हो सकता है। ऐसा नहीं है कि इस देश में कुछ हुआ नहीं है। पुराने लोगों की बात करने से ज्यादा फायदा नहीं है लेकिन जिस शताब्दी ने आपको गाँधी, अरविन्द जैसे लोग दिये हैं, बिनोवा जैसे लोग दिये हैं उसी शताब्दी का अन्त एक महापुरुष से हो रहा है—अठवले पाण्डुरंग शास्त्री। जरा उनका 'स्वाध्याय आन्दोलन' देखिये! जिस व्यक्ति ने लाखों लोगों के जीवन में परिवर्तन कर दिया उसके कार्य को विकास नहीं माना जाता, वह प्लानिंग कमीशन में नहीं है! यह क्या हो रहा है अपने देश में! लेकिन उसने एक नयी दिशा दी है और इसी से यह आश्वासन होता है कि, जो आरम्भ हो रहा है, वह पूर्ण रूप से अंधकारमय नहीं है।

❑

भारतीय संस्कृति, दर्शन और पुरुषार्थ-चिंतन

वेदान्त का नाम भारतीय संस्कृति और दर्शन से इतना गहरा जुड़ा हुआ है कि बहुत लोगों की राय में वे करीब-करीब एक ही हैं। पर जिन लोगों को दर्शन के इतिहास का जरा सा भी पता है उन्हें यह मालूम है, या होना चाहिये, कि 'वेदान्त' नाम से पुकारा जाने वाला कोई विशिष्ट दार्शनिक सम्प्रदाय कम से कम आठवीं शताब्दी तक इस रूप में नहीं जाना जाता था। हरिभद्र सूरी ने अपने ग्रंथ षडदर्शनसमुच्चय में 'वेदान्त' की चर्चा स्वतंत्र दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में नहीं की है, और न ही उन्होंने इसके किसी विशिष्ट ग्रंथ या आचार्य की बात कही है। उन्होंने तो इसे मीमांसा का अंग माना था, और 'उत्तर मीमांसा' कहकर ही प्रस्तुत किया है। यह चर्चा उन्होंने मीमांसा की ही की थी, और उसे 'जैमिनीय' कहा है और उसके संदर्भ में कुमारिल और प्रभाकर के मतों की चर्चा की है। 'उत्तरमीमांसा' को उन्होंने 'वेदान्त' जरूर कहा है, लेकिन इस संदर्भ में न ब्रह्मसूत्र की बात की है और न बादरायण की। यही नहीं, उन्होंने कहीं भी 'अद्वैत' का नाम नहीं लिया है, और इससे पता चलता है कि अद्वैत शब्द का प्रचलन आचार्य शंकर के बाद ही शायद शुरू हुआ होगा। इसके अलावा हरिभ्रद्र सूरी के वर्णन से ऐसा लगता है कि उस समय यह प्रधानतः साधना-केन्द्रित सन्यासियों में प्रचलित था, क्योंकि वे चार तरह के वेदान्ती सन्यासियों की बात करते हैं, जिनके नाम 'कुटीचर', 'बहूदक', 'हंस' और 'परमहंस' थे। इनमें से पहले दो, शिखा और ब्रह्मसूत्र रखते थे। और दूसरे दो उनका भी त्याग कर देते थे। ब्रह्मसूत्र का अर्थ यहाँ कुछ ऐसी चीज़ से है जो जनेऊ या यज्ञोपवीत की तरह पहना जाता था, जिसको 'हंस' व 'परमहंस' छोड़ देते थे। परमहंस सन्यासियों के बारे में लिखा है कि वे शूद्रों के घर भी भोजन कर लेते थे।

इन सब से ऐसा लगता है कि सन्यास की परम्परा वेदान्त सम्प्रदाय में शंकर से पहले थी, और ऐसा मानना कि शंकर ने ही दशनामी सन्यासियों को संगबद्ध किया पूर्ण रूप से ठीक नहीं लगता। शायद शंकर के पहले वेदान्ती सन्यासी